International Journal of Creative Research Thoughts
Volume 2, Issue.1, January 2014
ISSN:-2320-2882

ORIGINAL ARTICLE

''आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली के माध्यम से रोगियों का उपचार एक समाज शास्त्रीय अध्ययन''

शोधार्थी
कु. सुविधा तिवारी
समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग
बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय भोपाल म.प्र.
निर्देशिका
डॉ. ओजस्वनी जौहरी
शास. कन्या महाविद्यालय विदिशा म.प्र.

सारांश–

आत्मा तो निर्विकार है, किंतु मन, इंद्रिय और शरीर में विकृति हो सकती है और इन तीनों के परस्पर सापेक्ष्य होने के कारण एक का विकार दूसरे को प्रभावित कर सकता है। अत: इन्हें प्रकृतिस्थ रखना या विकृत होने पर प्रकृति में लाना या स्वस्थ करना परमावश्यक है। इससे दीर्घ सुख और हितायु की प्राप्ति होती है, जिससे क्रमश: आत्मा को भी उसके एकमात्र, किंतु भीषण, जन्म मृत्यु और भवबंधनरूप रोग से मुक्ति पाने में सहायता मिलती है, जो आयुर्वेद में नैतिष्ठकी चिकित्सा कही गई है।

उद्देश्य

आयुर्वेद का उद्देश्य ही स्वस्थ प्राणी के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी की रोग से रक्षा है। (प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं आतुरस्यविकारप्रशमनं च)। आयुर्वेद के दो उद्देश्य हैं :

1. स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा करना
2. रोगी व्यक्तियों के विकारों को दूर कर उन्हें स्वस्थ बनाना

स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा करना

इसके लिए अपने शरीर और प्रकृति के अनुकूल देश, काल आदि का विचार करना नियमित आहार-विहार, चेष्टा, व्यायाम, शौच, स्नान, शयन, जागरण आदि गृहस्थ जीवन के लिए उपयोगी शास्त्रोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन करना, संकटमय कार्यों से बचना, प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करना, मन और इंद्रिय को नियंत्रित रखना, देश, काल आदि परिस्थितियों के अनुसार अपने अपने शरीर आदि की शक्ति और अशक्ति का विचार कर कोई कार्य करना, मल, मूत्र आदि के उपस्थित वेगों को न रोकना, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, अहंकार आदि से बचना, समय-समय पर शरीर में संचित दोषों को निकालने के लिए वमन, विरेचन आदि के प्रयोगों से शरीर की शुद्धि करना, सदाचार का पालन करना और दूषित वायु, जल, देश और काल के प्रभाव से उत्पन्न महामारियों (जनपदोद्ध्वंसनीय व्याधियों, एपिडेमिक डिज़ीज़ेज़) में विज्ञ चिकित्सकों के उपदेशों का समुचित रूप से पालन करना, स्वच्छ और विशोधित जल, वायु, आहार आदि का सेवन करना और दूसरों को भी इसके लिए प्रेरित करना, ये स्वास्थ्यरक्षा के साधन हैं।

रोगी व्यक्तियों के विकारों को दूर कर उन्हें स्वस्थ बनाना

इसके लिए प्रत्येक रोग के

- हेतु (कारण),

- लिंग - रोगपरिचायक विषय, जैसे पूर्वरूप, रूप (साइंस एंड सिंप्टम्स), संप्राप्ति (पैथोजेनिसिस) तथा उपशयानुपशय (थिराप्युटिकटेस्ट्स)

- औषध का ज्ञान परमावश्यक है।

ये तीनों आयुर्वेद के 'त्रिस्कंध' (तीन प्रधान शाखाएं) कहलाती हैं। इसका विस्तृत विवेचन आयुर्वेद ग्रंथों में किया गया है। यहाँ केवल संक्षिप्त परिचय मात्र दिया जाएगा। किंतु इसके पूर्व आयु के प्रत्येक संघटक का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है, क्योंकि संघटकों के ज्ञान के बिना उनमें होनेवाले विकारों को जानना संभव न होगा।

आयुर्वैदिक चिकित्सा के लाभ

- आयुर्वेदीय चिकित्सा विधि सर्वांगीण है। आयुर्वेदिक चिकित्सा के उपरान्त व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक दोनों में सुधार होता है।
- आयुर्वेदिक औषधियों के अधिकांश घटक जड़ी-बुटियों, पौधों, फूलों एवं फलों आदि से प्राप्त की जातीं हैं। अतः यह चिकित्सा प्रकृति के निकट है।
- व्यावहारिक रूप से आयुर्वेदिक औषधियों के कोई दुष्प्रभाव (साइड-इफेक्ट) देखने को नहीं मिलते।
- अनेकों जीर्ण रोगों के लिए आयुर्वेद विशेष रूप से प्रभावी है।
- आयुर्वेद न केवल रोगों की चिकित्सा करता है बल्कि रोगों को रोकता भी है।
- आयुर्वेद भोजन तथा जीवनशैली में सरल परिवर्तनों के द्वारा रोगों को दूर रखने के उपाय सुझाता है।
- आयुर्वेदिक औषधियाँ स्वस्थ लोगों के लिए भी उपयोगी हैं।
- आयुर्वेदिक चिकित्सा अपेक्षाकृत सस्ती है क्योंकि आयुर्वेद चिकित्सा में सरलता से उपलब्ध जड़ी-बूटियाँ एवं मसाले काम में लाये जाते हैं।

आयु

आयुर्वेद का अर्थ प्राचीन आचार्यों की व्याख्या और इसमें आए हुए 'आयु' और 'वेद' इन दो शब्दों के अर्थों के अनुसार बहुत व्यापक है। आयुर्वेद के आचार्यों ने 'शरीर, इंद्रिय, मन तथा आत्मा के संयोग' को आयु कहा है। अर्थात् जब तक इन चारों संपत्ति (साद्गुण्य) या विपत्ति (वैगुण्य) के अनुसार आयु के अनेक भेद होते हैं, किंतु संक्षेप में प्रभावभेद से इसे चार प्रकार का माना गया है :

(१) सुखायु : किसी प्रकार के शीरीरिक या मानसिक विकास से रहित होते हुए, ज्ञान, विज्ञान, बल, पौरुष, धनृ धान्य, यश, परिजन आदि साधनों से समृद्ध व्यक्ति को "सुखायु' कहते हैं।

(२) दुखायु : इसके विपरीत समस्त साधनों से युक्त होते हुए भी, शरीरिक या मानसिक रोग से पीड़ित अथवा निरोग होते हुए भी साधनहीन या स्वास्थ्य और साधन दोनों से हीन व्यक्ति को "दुःखायु' कहते हैं।

(३) हितायु : स्वास्थ्य और साधनों से संपन्न होते हुए या उनमें कुछ कमी होने पर भी जो व्यक्ति विवेक, सदाचार, सुशीलता, उदारता, सत्य, अहिंसा, शांति, परोपकार आदि आदि गुणों से युक्त होते हैं और समाज तथा लोक के कल्याण में निरत रहते हैं उन्हें हितायु कहते हैं।

(४) अहितायु : इसके विपरीत जो व्यक्ति अविवेक, दुराचार, क्रूरता, स्वार्थ, दंभ, अत्याचार आदि दुर्गुणों से युक्त और समाज तथा लोक के लिए अभिशाप होते हैं उन्हें अहितायु कहते हैं।

इस प्रकार हित, अहित, सुख और दुःख, आयु के ये चार भेद हैं। इसी प्रकार कालप्रमाण के अनुसार भी दीर्घायु, मध्यायु और अल्पायु, संक्षेप में ये तीन भेद होते हैं। वैसे इन तीनों में भी अनेक भेदों की कल्पना की जा सकती है।

'वेद' शब्द के भी सत्ता, लाभ, गति, विचार, प्राप्ति और ज्ञान के साधन, ये अर्थ होते हैं, और आयु के वेद को आयुर्वेद (नॉलेज ऑव सायन्स ऑव लाइफ़) कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र में आयु के स्वरूप, आयु के विविध भेद, आयु के लिए हितकारक और अप्रमाण तथा उनके ज्ञान के साधनों का एवं आयु के उपादानभूत शरीर, इंद्रिय, मन, और आत्मा, इनमें सभी या किसी एक के विकास के साथ हित, सुख और दीर्घ आयु की प्राप्ति के साधनों का तथा इनके बाधक विषयों के निराकरण के उपायों का विवचेन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। किंतु आजकल आयुर्वेद "प्राचीन भारतीय चिकित्सापद्धति' इस संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है।

शरीर समस्त चेष्टाओं, इंद्रियों, मन ओर आत्मा के आधारभूत पांचभौतिक पिंड को 'शरीर' कहते हैं। मानव शरीर के स्थूल रूप में छह अंग हैं; दो हाथ, दो पैर, शिर और ग्रीवा एक तथा अंतराधि (मध्यशरीर) एक। इन अंगों के अवयवों को प्रत्यंग कहते हैं-

मूर्धा (हेड), ललाट, भ्रू, नासिका, अक्षिकूट (ऑर्बिट), अक्षिगोलक (आइबॉल), वर्त्स (पलक), पक्ष्म (बरुनी), कर्ण (कान), कर्णपुत्रक (ट्रैगस), शष्कुली और पाली (पिन्न एंड लोब ऑव इयर्स), शंख (माथे के पार्श्व, टेंपुल्स), गंड (गाल), ओष्ठ (होंठ), सृक्कणी (मुख के कोने), चिबुक (ठुड्डी), दंतवेष्ट (मसूड़े), जिह्वा (जीभ), तालु, टांसिल्स, गलशुंडिका (युवुला), गोजिह्विका (एपीग्लॉटिस), ग्रीवा (गरदन), अवटुका (लैरिंग्ज़), कंधरा (कंधा), कक्षा (एक्सिला), जत्रु (हंसुली, कालर), वक्ष (थोरेक्स), स्तन, पार्श्व (बगल), उदर (बेली), नाभि, कुक्षि (कोख), बस्तिशिर (ग्रॉयन), पृष्ठ (पीठ), कटि (कमर), श्रोणि (पेल्विस), नितंब, गुदा, शिश्न या भग, वृषण (टेस्टीज़), भुज, कूर्पर (केहूनी), बाहुपिंडिका या अरत्नि (फ़ोरआर्म), मणिबंध (कलाई), हस्त (हथेली), अंगुलियां और अंगुष्ठ, ऊरु (जांघ), जानु (घुटना), जंघा (टांग, लेग), गुल्फ (टखना), प्रपद (फुट), पादांगुलि, अंगुष्ठ और पादतल (तलवा),। इनके अतिरिक्त हृदय, फुफ्फुस (लंग्स), यकृत (लिवर), प्लीहा (स्प्लीन), आमाशय (स्टमक), पित्ताशय (गाल ब्लैडर), वृक्क (गुर्दा, किडनी), वस्ति (यूरिनरी ब्लैडर), क्षुद्रांत (स्मॉल इंटेस्टिन), स्थूलांत्र (लार्ज इंटेस्टिन), वपावहन (मेसेंटेरी), पुरीषाधार, उत्तर और अधरगुद (रेक्टम), ये कोष्ठांग हैं और सिर में सभी इंद्रियों और प्राणों के केंद्रों का आश्रय मस्तिष्क (ब्रेन)है।

आयुर्वेद के अनुसार सारे शरीर में ३०० अस्थियां हैं, जिन्हें आजकल केवल गणना-क्रम-भेद के कारण दो सौ छह (२०६) मानते हैं तथा संधियाँ (ज्वाइंट्स) २००, स्नायु (लिंगामेंट्स) ९००, शिराएं (ब्लड वेसेल्स, लिफ़ैटिक्स ऐंड नर्ब्ज़) ७००, धमनियां (क्रेनियल नर्ब्ज़) २४ और उनकी शाखाएं २००, पेशियां (मसल्स) ५०० (स्त्रियों में २० अधिक) तथा सूक्ष्म स्त्रोत ३०,९५६ हैं।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में रस (बाइल ऐंड प्लाज्मा), रक्त, मांस, मेद (फ़ैट), अस्थि, मज्जा (बोन मैरो) और शुक्र (सीमेन), ये सात धातुएँ हैं। नित्यप्रति स्वाभावत: विविध कार्यों में उपयोग होने से इनका क्षय भी होता रहता है, किंतु भोजन और पान के रूप में हम जो विविध पदार्थ लेते रहते हैं उनसे न केवल इस क्षति की पूर्ति होती है, वरन् धातुओं की पुष्टि भी होती रहती है। आहाररूप में लिया हुआ पदार्थ पाचकाग्नि, भूताग्नि और विभिन्न धात्वनिग्नयों द्वारा परिपक्व होकर अनेक परिवर्तनों के बाद पूर्वोक्त धातुओं के रूप में परिणत होकर इन धातुओं का पोषण करता है। इस पाचनक्रिया में आहार का जो सार भाग होता है उससे रस धातु का पोषण होता है और जो किट्ट भाग बचता है उससे मल (विष्ठा) और मूत्र बनता है। यह रस हृदय से होता हुआ शिराओं द्वारा सारे शरीर में पहुँचकर प्रत्येक धातु और अंग को पोषण प्रदान करता है। धात्वग्नियों से पाचन होने पर रस आदि धातु के सार भाग से रक्त आदि धातुओं एवं शरीर का भी पोषण होता है तथा किट्ट भाग से मलों की उत्पत्ति होती है, जैसे रस से कफ; रक्त पित्त; मांस से नाक, कान और नेत्र आदि के द्वारा बाहर आनेवाले मल; मेद से स्वेद (पसीना); अस्थि से केश तथा लोम (सिर के और दाढ़ी, मूंछ आदि के बाल) और मज्जा से आंख का कीचड़ मलरूप में बनते हैं। शुक्र में कोई मल नहीं होता, उसके सारे भाग से ओज (बल) की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं रसादि धातुओं से अनेक उपधातुओं की भी उत्पत्ति होती है, यथा रस से दूध, रक्त से कंडराएं (टेंडंस) और शिराएँ, मांस से वसा (फ़ैट), त्वचा और उसके छह या सात स्तर (परत), मेद से स्नायु (लिंगामेंट्स), अस्थि से दांत, मज्जा से केश और शुक्र से ओज नामक उपधातुओं की उत्पत्ति होती है।

ये धातुएं और उपधातुएं विभिन्न अवयवों में विभिन्न रूपों में स्थित होकर शरीर की विभिन्न क्रियाओं में उपयोगी होती हैं। जब तक ये उचित परिमाण और स्वरूप में रहती हैं और इनकी क्रिया स्वाभाविक रहती है तब तक शरीर स्वस्थ रहता है और जब ये न्यून या अधिक मात्रा में तथा विकृत स्वरूप में होती हैं तो शरीर में रोग की उत्पत्ति होती है।

प्राचीन दार्शनिक सिंद्धांत के अनुसार संसार के सभी स्थूल पदार्थ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों के संयुक्त होने से बनते हैं। इनके अनुपात में भेद होने से ही उनके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। इसी प्रकार शरीर के समस्त धातु, उपधातु और मल पांचभौतिक हैं। परिणामत: शरीर के समस्त अवयव और अतत: सारा शरीर पांचभौतिक है। ये सभी अचेतन हैं। जब इनमें आत्मा का संयोग होता है तब उसकी चेतनता में इनमें भी चेतना आती है।

उचित परिस्थिति में शुद्ध रज और शुद्ध वीर्य का संयोग होने और उसमें आत्मा का संचार होने से माता के गर्भाशय में शरीर का आरंभ होता है। इसे ही गर्भ कहते हैं। माता के आहारजनित रक्त से अपरा (प्लैसेंटा) और गर्भनाड़ी के द्वारा, जो नाभि से लगी रहती है, गर्भ पोषण प्राप्त करता है। यह गर्भोदक में निमग्न रहकर उपस्नेहन द्वारा भी पोषण प्राप्त करता है तथा प्रथम मास में कलल (जेली) और द्वितीय में घन होता है? तीसरे मास में अंग प्रत्यंग का विकास आरंभ होता है। चौथे मास में उसमें अधिक स्थिरता आ जाती है तथा गर्भ के लक्षण माता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगते हैं। इस प्रकार यह माता की कुक्षि में उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ जब संपूर्ण अंग, प्रत्यंग और अवयवों से युक्त हो जाता है, तब प्राय: नवें मास में कुक्षि से बाहर आकर नवीन प्राणी के रूप में जन्म ग्रहण करता है।

इंद्रिय

शरीर में प्रत्येक अंग या किसी भी अवयव का निर्माण उद्देश्यविशेष से ही होता है, अर्थात् प्रत्येक अवयव के द्वारा विशिष्ट कार्यों की सिद्धि होती है, जैसे हाथ से पकड़ना, पैर से चलना, मुख से खाना, दांत से चबाना आदि। कुछ अवयव ऐसे भी हैं जिनसे कई कार्य होते हैं और कुछ ऐसे हैं जिनसे एक विशेष कार्य ही होता है। जिनसे कार्यविशेष ही होता है उनमें उस कार्य के लिए शक्तिसंपन्न एक विशिष्ट सूक्ष्म रचना होती है। इसी को इंद्रिय कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्रमानुसार कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये अवयव इंद्रियाश्रय अवयव (विशेष इंद्रियों के अंग) कहलाते हैं और इनमें स्थित विशिष्ट शक्तिसंपन्न सूक्ष्म वस्तु को इंद्रिय कहते हैं। ये क्रमश: पाँच हैं-

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण।

इन सूक्ष्म अवयवों में पंचमहाभूतों में से उस महाभूत की विशेषता रहती है जिसके शब्द (ध्वनि) आदि विशिष्ट गुण हैं; जैसे शब्द के लिए श्रोत्र इंद्रिय में आकाश, स्पर्श के लिए त्वक् इंद्रिय में वायु, रूप के लिए चक्षु इंद्रिय में तेज, रस के लिए रसनेंद्रिय में जल और गंध के लिए घ्राणेंद्रिय में पृथ्वी तत्व। इन पांचों इंद्रियों को ज्ञानेंद्रिय कहते हैं। इनके अतिरिक्त विशिष्ट कार्यसंपादन के लिए पांच कर्मेंद्रियां भी होती हैं, जैसे गमन के लिए पैर, ग्रहण के लिए हाथ, बोलने के लिए जिह्वा (गोजिह्वा), मलत्याग के लिए गुदा और मूत्रत्याग तथा संतानोत्पादन के लिए शिश्न (स्त्रियों में भग)। आयुर्वेद दार्शनिकों की भाँति इंद्रियों को आहंकारिक नहीं, अपितु भौतिक मानता है। इन इंद्रियों की अपने कार्यों मन की प्रेरणा से ही प्रवृत्ति होती है। मन से संपर्क न होने पर ये निष्क्रिय रहती है।

मन

प्रत्येक प्राणी के शरीर में अत्यंत सूक्ष्म और केवल एक मन होता है। यह अत्यंत द्रुतगति वाला और प्रत्येक इंद्रिय का नियंत्रक होता है। किंतु यह स्वयं भी आत्मा के संपर्क के बिना अचेतन होने से निष्क्रिय रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में सत्व, रज और तम, ये तीनों प्राकृतिक गुण होते हुए भी इनमें से किसी एक की सामान्यत: प्रबलता रहती है और उसी के अनुसार व्यक्ति सात्विक, राजस या तामस होता है, किंतु समय-समय पर आहार, आचार एवं परिस्थितियों के प्रभाव से दसरे गुणों का भी प्राबल्य हो जाता है। इसका ज्ञान प्रवृत्तियों के लक्षणों द्वारा होता है, यथा राग-द्वेष-शून्य यथार्थद्रष्टा मन सात्विक, रागयुक्त, सचेष्ट और चंचल मन राजस और आलस्य, दीर्घसूत्रता एवं निष्क्रियता आदि युक्त मन तामस होता है। इसीलिए सात्विक मन को शुद्ध, सत्व या प्राकृतिक माना जाता है और रज तथा तम उसके दोष कहे गए हैं। आत्मा से चेतनता प्राप्त कर प्राकृतिक या सदोष मन अपने गुणों के अनुसार इंद्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करता है और उसी के अनुरूप शारीरिक कार्य होते हैं। आत्मा मन के द्वारा ही इंद्रियों और शरीरावयवों को प्रवृत्त करता है, क्योंकि मन ही उसका करण (इंस्ट्रुमेंट) है। इसीलिए मन का संपर्क जिस इंद्रिय के साथ होता है उसी के द्वारा ज्ञान होता है, दूसरे के द्वारा नहीं। क्योंकि मन एक ओर सूक्ष्म होता है, अत: एक साथ उसका अनेक इंद्रियों के साथ संपर्क सभव नहीं है। फिर भी उसकी गति इतनी तीव्र है कि वह एक के बाद दूसरी इंद्रिय के संपर्क में शीघ्रता से परिवर्तित होता है, जिससे हमें यही ज्ञात होता है कि सभी के साथ उसका संपर्क है और सब कार्य एक साथ हो रहे हैं, किंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता।

आत्मा

आत्मा पंचमहाभूत और मन से भिन्न, चेतनावान्, निर्विकार और नित्य है तथा साक्षी स्वरूप है, क्योंकि स्वयं निर्विकार तथा निष्क्रिय है। इसके संपर्क से सक्रिय किंतु अचेतन मन, इंद्रियों और शरीर में चेतना का संचार होता है और वे सचेष्ट होते हैं। आत्मा में रूप, रंग, आकृति आदि कोई चिह्न नहीं है, किंतु उसके बिना शरीर अचेतन होने के कारण निश्चेष्ट पड़ा रहता है और मृत कहलता है तथा उसके संपर्क से ही उसमें चेतना आती है तब उसे जीवित कहा जाता है और उसमें अनेक स्वाभाविक क्रियाएं होने लगती हैं; जैसे श्वासोच्छ्वास, छोटे से बड़ा होना और कटे हुए घाव भरना आदि, पलकों का खुलना और बंद होना, जीवन के लक्षण, मन की गति, एक इंद्रिय से हुए ज्ञान का दूसरी इंद्रिय पर प्रभाव होना (जैसे आँख से किसी सुंदर, मधुर फल को देखकर मुँह में पानी आना), विभिन्न इंद्रियों और अवयवों को विभन्न कार्यों में प्रवृत्त करना, विषयों का ग्रहण और धारण करना, स्वप्न में एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचना, एक आँख से देखी वस्तु का दूसरी आँख से भी अनुभव करना। इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, प्रयत्न, धैर्य, बुद्धि, स्मरण शक्ति, अहंकार आदि शरीर में आत्मा के होने पर ही होते हैं; आत्मारहित मृत शरीर में नहीं होते। अत: ये आत्मा के लक्षण कहे जाते हैं, अर्थात् आत्मा का पूर्वोक्त लक्षणों से अनुमान मात्र किया जा सकता है। मानसिक कल्पना के अतिरिक्त किसी दूसरी इंद्रिय से उसका प्रत्यक्ष करना संभव नहीं है।

यह आत्मा नित्य, निर्विकार और व्यापक होते हुए भी पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्म के परिणामस्वरूप जैसी योनि में या शरीर में, जिस प्रकार के मन और इंद्रियों तथा विषयों के संपर्क में आती है वैसे ही कार्य होते हैं। उत्तरोत्तर अशुभ कार्यों के करने से उत्तरोत्तर अधोगति होती है तथा शुभ कर्मों के द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति होने से, मन के राग-द्वेष-हीन होने पर, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा तो निर्विकार है, किंतु मन, इंद्रिय और शरीर में विकृति हो सकती है और इन तीनों के परस्पर सापेक्ष्य होने के कारण एक का विकार दूसरे को प्रभावित कर सकता है। अत: इन्हें प्रकृतिस्थ रखना या विकृत होने पर प्रकृति में लाना या स्वस्थ करना परमावश्यक है। इससे दीर्घ सुख और हितायु की प्राप्ति होती है, जिससे क्रमश: आत्मा को भी उसके एकमात्र, किंतु भीषण, जन्म मृत्यु और भवबंधनरूप रोग से मुक्ति पाने में सहायता मिलती है, जो आयुर्वेद में नैतिष्ठकी चिकित्सा कही गई है।

रोग और स्वास्थ्य

चरक ने संक्षेप में रोग और आरोग्य का लक्षण यह लिखा है-

"वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों का सम मात्रा (उचित प्रमाण) में होना ही आरोग्य और इनमें विषमता होना ही रोग है।"

सुश्रुत ने स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण विस्तार से दिया है-

"जिससे सभी दोष सम मात्रा में हों, अग्नि सम हो, धातु, मल और उनकी क्रियाएं भी सम (उचित रूप में) हों तथा जिसकी आत्मा, इंद्रिय और मन प्रसन्न (शुद्ध) हों उसे स्वस्थ समझना चाहिए /

इसके विपरीत लक्षण हों तो अस्वस्थ समझना चाहिए। रोग को विकृति या विकार भी कहते हैं। अत: शरीर, इंद्रिय और मन के प्राकृतिक (स्वाभाविक) रूप या क्रिया में विकृति होना रोग है।

रोगों के हेतु या कारण (इटियॉलोजी)

सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादक हेतू निदानम ।

रोग के कारण को 'निदान' यह पर्यायी शब्द आया है । जब किसी आहार या विहार से शरीर पर रोग प्रादुर्भाव दिखलाए तब उसे निदान कहते हैं।

संसार की सभी वस्तुएँ साक्षात् या परंपरा से शरीर, इंद्रियों और मन पर किसी न किसी प्रकार का निश्चित प्रभाव डालती हैं और अनुचित या प्रतिकूल प्रभाव से इनमें विकार उत्पन्न कर रोगों का कारण होती हैं। इन सबका विस्तृत विवेचन कठिन है, अत: संक्षेप में इन्हें तीन वर्गों में बाँट दिया गया है :

(१) प्रज्ञापराध : अविवेक (धीभ्रंश), अधीरता (धृतिभ्रंश) तथा पूर्व अनुभव और वास्तविकता की उपेक्षा (स्मृतिभ्रंश) के कारण लाभ हानि का विचार किए बिना ही किसी विषय का सेवन या जानते हुए भी अनुचित वस्तु का सेवन करना। इसी को दूसरे और स्पष्ट शब्दों में कर्म (शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएं) का हीन, मिथ्या और अति योग भी कहते हैं।

(२) असात्म्येंद्रियार्थसंयोग : चक्षु आदि इंद्रियों का अपने-अपने रूप आदि विषयों के साथ असात्म्य (प्रतिकूल, हीन, मिथ्या और अति) संयोग इंद्रियों, शरीर और मन के विकार का कारण होता है; यथा आँख से बिलकुल न देखना (अयोग), अति तेजस्वी वस्तुओं का देखना और बहुत अधिक देखना (अतियोग) तथा अतिसूक्ष्म, संकीर्ण, अति दूर में स्थित तथा भयानक, बीभत्स, एवं विकृतरूप वस्तुओं को देखना (मिथ्यारोग)। ये चक्षुरिंद्रिय और उसके आश्रय नेत्रों के साथ मन और शरीर में भी विकार उत्पन्न करते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में अर्थ का दुर्योग भी कहते हैं। ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदि ऋतुओं तथा बाल्य, युवा और वृद्धावस्थाओं का भी शरीर आदि पर प्रभाव पड़ता ही है, किंतु इनके हीन, मिथ्या और अतियोग का प्रभाव विशेष रूप से हानिकर होता है।

पूर्वोक्त कारणों के प्रकारांतर से अन्य भेद भी होते हैं; यथा

(१) विप्रकृष्ट कारण (रिमोट कॉज़), जो शरीर में दोषों का संचय करता रहता है और अनुकूल समय पर रोग को उत्पन्न करता है,

(२) संनिकृष्ट कारण (इम्मीडिएट कॉज़), जो रोग का तात्कालिक कारण होता है,

(३) व्यभिचारी कारण (अबॉर्टिव कॉज़) जो परिस्थितिवश रोग को उत्पन्न करता है और नहीं भी करता तथा

(४) प्राधानिक कारण (स्पेसिफ़िक कॉज़), जो तत्काल किसी धातु या अवयवविशेष पर प्रभाव डालकर निश्चित लक्षणोंवाले विकार को उत्पन्न करता है, जैसे विभिन्न स्थावर और जांतव विष।

प्रकारांतर से इनके अन्य दो भेद होते हैं-

(१) उत्पादक (प्रीडिस्पोज़िंग), जो शरीर में रोगविशेष की उत्पत्ति के अनुकूल परिवर्तन कर देता है;

(२) व्यंजक (एक्साइटिंग), जो पहले से रोगानुकूल शरीर में तत्काल विकारों को व्यक्त करता है।

हेतुओं का शरीर पर प्रभाव

शरीर पर इन सभी कारणों के तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं :

(१) दोषप्रकोप- अनेक कारणों से शरीर के उपादानभूत आकाश आदि पांच तत्वों में से किसी एक या अनेक में परिवर्तन होकर उनके स्वाभाविक अनुपात में अंतर आ जाना अनिवार्य है। इसी को ध्यान में रखकर आयुर्वेदाचार्यों ने इन विकारों को वात, पित्त और कफ इन वर्गों में विभक्त किया है। पंचमहाभूत एवं त्रिदोष का अलग से विवेचन ही उचित है, किंतु संक्षेप में यह समझना चाहिए कि संसार के जितने भी मूर्त (मैटिरयल) पदार्थ हैं वे सब आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पांच तत्वों से बने हैं।

ये पृथ्वी आदि वे ही नहीं है जो हमें नित्यप्रति स्थूल जगत् में देखने को मिलते हैं। ये पिछले सब तो पूर्वोक्त पांचों तत्वों के संयोग से उत्पन्न पांचभौतिक हैं। वस्तुओं में जिन तत्वों की बहुलता होती है वे उन्हीं नामों से वर्णित की जाती हैं। उसी प्रकार हमारे शरीर की धातुओं में या उनके संघटकों में जिस तत्व की बहुलता रहती है वे उसी श्रेणी के गिने जाते हैं। इन पांचों में आकाश तो निर्विकार है तथा पृथ्वी सबसे स्थूल और सभी का आश्रय है। जो कुछ भी विकास या परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव इसी पर स्पष्ट रूप से पड़ता है। शेष तीन (वायु, तेज और जल) सब प्रकार के परिवर्तन या विकार उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अत: तीनों की प्रचुरता के आधार पर, विभिन्न धातुओं एवं उनके संघटकों को वात, पित्त और कफ की संज्ञा दी गई है। सामान्य रूप से ये तीनों धातुएं शरीर की पोषक होने के कारण विकृत होने पर अन्य धातुओं को भी दूषित करती हैं। अत: दोष तथा मल रूप होने से मल कहलाती हैं। रोग में किसी भी कारण से इन्हीं तीनों की न्यूनता या अधिकता होती है, जिसे दोषप्रकोप कहते हैं।

(२) धातुदूषण- कुछ पदार्थ या कारण ऐसे होते हैं जो किसी विशिष्ट धातु या अवयव में ही विकार करते हैं। इनका प्रभाव सारे शरीर पर नहीं होता। इन्हें धातुप्रदूषक कहते हैं।

(३) उभयहेतु- वे पदार्थ जो सारे शरीर में वात आदि दोषों को कुपित करते हुए भी किसी धातु या अंग विशेष में ही विशेष विकार उत्पन्न करते हैं, उभयहेतु कहलाते हैं। किंतु इन तीनों में जो परिवर्तन होते हैं वे वात, पित्त या कफ इन तीनों में से किसी एक, दो या तीनों में ही विकार उत्पन्न करते हैं। अत: ये ही तीनों दोष प्रधान शरीरगत कारण होते हैं, क्योंकि इनके स्वाभाविक अनुपात में परिवर्तन होने से शरीर की धातुओं आदि में भी विकृति होती है। रचना में विकार होने से क्रिया में भी विकार होना स्वाभाविक है। इस अस्वाभाविक रचना और क्रिया के परिणामस्वरूप अतिसार, कास आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और इन लक्षणों के समूह को ही रोग कहते हैं।

इस प्रकार जिन पदार्थों के प्रभाव से वात आदि दोषों में विकृतियां होती हैं तथा वे वातादि दोष, जो शारीरिक धातुओं को विकृत करते हैं, दोनों ही हेतु (कारण) या निदान (आदिकारण) कहलाते हैं। अंतत: इनके दो अन्य महत्वपूर्ण भेदों का विचार अपेक्षित है :

(१) निज (इडियोपैथिक)- जब पूर्वोक्त कारणों से क्रमश: शरीरगत वातादि दोष में, और उनके द्वारा धातुओं में, विकार उत्पन्न होते हैं तो उनको निज हेतु या निज रोग कहते हैं।

(२) आगंतुक (ऐक्सिडेंटल)- चोट लगना, आग से जलना, विद्युत्प्रभाव, सांप आदि विषैले जीवों के काटने या विषप्रयोग से जब एकाएक विकार उत्पन्न होते हैं तो उनमें भी वातादि दोषों का विकार होते हुए भी, कारण की भिन्नता और प्रबलता से, वे कारण और उनसे उत्पन्न रोग आगंतुक कहलाते हैं।

रोग जानकारी के साधन

इन्हे 'निदान पचक' कहा है । शरीर मे रोग की उत्पत्ति के शुरुवात से भेद हैं : पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति और उपशय।

पूर्वरूप- किसी रोग के व्यक्त होने के पूर्व शरीर के भीतर हुई अत्यल्प या आरंभिक विकृति के कारण जो लक्षण उत्पन्न होकर किसी रोगविशेष की उत्पत्ति की संभावना प्रकट करते हैं उन्हें पूर्वरूप (प्रोडामेटा) कहते हैं।

रूप (साइंस एंड सिंप्टम्स) - जिन लक्षणों से रोग या विकृति का स्पष्ट परिचय मिलता है उन्हें रूप कहते हैं।

संप्राप्ति (पैथोजेनेसिस) : किस कारण से कौन सा दोष स्वतंत्र रूप में या परतंत्र रूप में, अकेले या दूसरे के साथ, कितने अंश में और कितनी मात्रा में प्रकुपित होकर, किस धातु या किस अंग में, किस-किस स्वरूप का विकार उत्पन्न करता है, इसके निर्धारण को संप्राप्ति कहते हैं। चिकित्सा में इसी की महत्वपूर्ण उपयोगिता है। वस्तुत: इन परिवर्तनों से ही ज्वरादि रूप में रोग उत्पन्न होते हैं, अत: इन्हें ही वास्तव में रोग भी कहा जा सकता है और इन्हीं परिवर्तनों को ध्यान में रखकर की गई चिकित्सा भी सफल होती है।

उपशय और अनुपशय (थैराप्यूटिक टेस्ट) - जब अल्पता या संकीर्णता आदि के कारण रोगों के वास्तविक कारणों या स्वरूपों का निर्णय करने में संदेह होता है, तब उस संदेह के निराकरण के लिए संभावित दोषों या विकारों में से किसी एक के विकार से उपयुक्त आहार-विहार और औषध का प्रयोग करने पर जिससे लाभ होता है उसे उपचय के विवेचन में आयुर्वेदाचार्यो ने छह प्रकार से आहार-विहार और औषध के प्रयोगों का सूत्र बतलाते हुए उपशय के १८ भेदों का वर्णन किया है। ये सूत्र इतने महत्व के हैं कि इनमें से एक-एक के आधार पर एक-एक चिकित्सापद्धति का उदय हो गया है; जैसे,

- (१) हेतु के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना।
- (२) व्याधि, वेदना या लक्षणों के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना। स्वयं ऐलोपैथी की स्थापना इसी पद्धति पर हुई थी (ऐलोज़ (विपरीत)अपैथोज़ (वेदना) उ ऐलोपैथी)।
- (३) हेतु और व्याधि, दोनों के विपरीत आहार विहार और औषध का प्रयोग करना।
- (४) हेतुविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग के कारण के समान होते हुए भी उस कारण के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग; जैसे, आग से जलने पर सेंकने या गरम वस्तुओं का लेप करने से उस स्थान पर रक्तसंचार बढ़कर दोषों का स्थानांतरण होता है तथा रक्त का जमना रुकने, पाक के रुकने पर शांति मिलती है।
- (५) व्याधिविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग या वेदना को बढ़ानेवाला प्रतीत होते हुए भी व्याधि के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग (होमियापैथी से तुलना करें : होमियो (समान) अपैथोज़ (वेदना = होमियोपैथी)।
- (६) उभयविरीतार्थकारी, अर्थात् कारण और वेदना दोनों के समान प्रतीत होते हुए भी दोनों के विपरीत कार्य करनेवाले आहार विहार और औषध का प्रयोग।

उपशय और अनुपशय से भी रोग की पहचान में सहायता मिलती है। अत: इनको भी प्राचीनों ने "लिंग' में ही गिना है। हेतु और लिंग के द्वारा रोग का ज्ञान प्राप्त करने पर ही उसकी उचित और सफल चिकित्सा (औषध) संभव है। हेतु और लिंगों से रोग की परीक्षा होती है, किंतु इनके समुचित ज्ञान के लिए रोगी की परीक्षा करनी चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

- अच्छी याद्दाश्त के लिए आयुर्वेद
- आयुर्वेद का व्यापक क्षेत्र (अखिल विश्व गायत्री परिवार)
- कार्यक्षमता के लिये आयुर्वेद और योग (गूगल पुस्तक ; लेखक - डॉ विनोद शर्मा)
- कायचिकित्सा (वर्णक्रमानुसार) (गूगल पुस्तक ; लेखक - धर्मदत्त वैद्य)
- "केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद्". Archived from the original on 1 January 2014.
- राजस्थान सरकार के आयुर्वेद विभाग का जालस्थल
- राजस्थान निर्माण से पूर्व देशी रियासतो में आयुर्वेद की स्थिति
- आधुनिक विज्ञान के आईने में आयुर्वेद (डॉ ओम प्रभात अग्रवाल)
- दर्शन आयुर्वेद चिकित्सालय (आयुर्वैदिक ज्ञान की हिन्दी साइट)
- आयुर्वेद का इतिहास एवं मूल सिद्धांत (गोरा सोसायटी)
- आयुर्वेद का इतिहास (अंग्रेजी में) (डाबर)